International Journal of Multidisciplinary Horizon

ISSN: **3049-2017**
IJMH 2026; 3(2): 194-199
© 2026 IJMH
www.themultijournal.com
Received: 21-03-2026
Accepted: 06-04-2026
Publish : 07-04-2026

अनु देवी
शोधच्छात्रा,
संस्कृत-विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्विद्यालय।
समरहित, शिमला-171005

डॉ.सपना चन्देल
शोध-निर्देशक,
संस्कृत-विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय,
समरहित, शिमला-171005

Correspondence:
अनु देवी
शोधच्छात्रा,
संस्कृत-विभाग,
हिमाचल प्रदेश विश्विद्यालय।
समरहित, शिमला-171005

जाति का स्वरूप तथा राष्ट्र-विकास पर उसका प्रभाव: दुर्गादत्त शास्त्री के काव्यों के परिप्रेक्ष्य में

अनु देवी, डॉ.सपना चन्देल

शोधसारांश :

प्रस्तुत शोध में भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के उद्भव, विकास और उसके दुष्प्रभावों का अध्ययन किया गया है। इसमें बताया गया है कि कर्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था कालान्तर में जन्म-आधारित जाति-प्रथा बनकर सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय एकता के लिए बाधक बनी। जातिवाद, अस्पृश्यता और ऊँच-नीच की भावना ने समाज को विभाजित किया। पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री ने अपने काव्य के माध्यम से इसका विरोध करते हुए मानवता और राष्ट्रहित को सर्वोपरि माना। निष्कर्षतः, जातिवाद का उन्मूलन ही सुदृढ़ राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है।

कूटशब्द :

जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, राष्ट्रिय एकता, राष्ट्र-विकास, सामाजिक समरसता, अस्पृश्यता, कर्म-प्रधानता, भारतीय समाज, वैदिक दृष्टि, धर्मशास्त्रीय परम्परा, संस्कृत काव्य, पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था ने लोगों को अनेक वर्गों में बाँटकर संकीर्णता और विभाजन को बढ़ावा दिया है। इससे सामाजिक एकता, सहयोग और राष्ट्रीय भावना कमजोर हुई है। स्वतंत्रता के बाद भी जातिगत भेदभाव के कारण "एक राष्ट्र, एक समाज" की भावना पूरी तरह विकसित नहीं हो सकी, जो राष्ट्रीय एकता में बाधा है।[1] जाति प्रथा राष्ट्र की उन्नति में बाधक है। इसने हिंदू समाज को हजारों जातियों में बाँटकर संकीर्णता और सामाजिक जड़ता बढ़ाई है। इसके कारण ऊँच-नीच, अस्पृश्यता और भेदभाव जैसी अमानवीय प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं।[2] इसके अतिरिक्त विभिन्न जातियों और उपजातियों के बीच पारस्परिक हीनता-बोध तथा परस्पर संघर्ष की प्रवृत्ति ने समाज को प्रतिद्वंदी समुदायों में विभाजित कर दिया। इसी आंतरिक विघटन के कारण भारतीय समाज विदेशी आक्रमणों के समय संगठित प्रतिरोध प्रस्तुत नहीं कर सका। समाज की यह विखंडित स्थिति राष्ट्रीयता के विकास में गंभीर बाधा सिद्ध हुई।

जाति व्यवस्था ने इतिहास में राष्ट्रीय एकता और सुरक्षा को कमजोर किया। तुर्क आक्रमण के समय भारत छोटे-छोटे विभाजित राज्यों में बँटा था, जहाँ आपसी मतभेद और जातिगत संकीर्णता के कारण एकता नहीं बन सकी। परिणामस्वरूप विदेशी आक्रमणकारियों ने उन्हें आसानी से पराजित कर लंबे समय तक शासन स्थापित किया।[3] जाति प्रथा ने ऊँच-नीच की भावना बढ़ाकर समाज को विभाजित किया। सार्वजनिक सुविधाएँ भी जाति तक सीमित हो गईं, जिससे सह-अस्तित्व और विश्वास कमजोर हुआ तथा शक्तिशाली वर्गों द्वारा कमजोरों पर अत्याचार बढ़ा।[4]

यद्यपि वैदिक काल से ही इस प्रथा का अस्तित्व विद्यमान था परंतु उस समय यह वर्ण-व्यवस्था के रूप में प्रचलित थी, जिसका आधार जन्म न होकर गुण और कर्म था। वैदिक युग में समाज चार प्रमुख

वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभक्त था। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में इन चारों वर्णों की उत्पत्ति का प्रतीकात्मक वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदबाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।[5]

अर्थात– इस समष्टि पुरुष का मुख ब्राह्मण हो गया इसके दोनों बाहु क्षत्रिय मान लिए गए इसकी वह जांघें जो वैश्य है दो पैरों से शूद्र उत्पन्न हो गए।

इस सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति समाज की कार्यात्मक संरचना को दर्शाती है, न कि ऊँच-नीच को। वैदिक काल में भेदभाव या कठोर जाति प्रथा नहीं थी और सभी वर्णों के प्रति समभाव व समन्वय की भावना विद्यमान थी। शुक्ल यजुर्वेद में यज्ञ करते समय ब्राह्मण द्वारा समस्त राष्ट्र की मंगलकामना करते हुए कहा गया है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच राजंसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयिं धेहि रुचा रुचम्।।[6]

अर्थात– हे अग्ने ! हमारे ब्राह्मणों में दीप्ति धारित करो, हमारे राजाओं में तेज धारित करो। वैश्यों-शूद्रों में तेज धारित करो । मुझमें भी कान्ति धारित करो ।।

अपि च–

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु।।[7]

अर्थात् – जिस प्रकार मैं इस कल्याणकारी वाणी का उच्चारण करता हूं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य तथा अपने भक्त के लिए दक्षिणा को देने वाला में देवों का प्रिय होऊँ। मेरा मनोरथ अभिवृद्ध होवें। यह (नाम) मेरे प्रति नमन (आत्मसमर्पण) करे।

अथर्ववेद में भी कहा गया है –

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते।।[8]

अर्थात– हे दर्भ! ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों, क्षात्रतेज सम्पन्न क्षत्रियों शूद्रों और आर्यश्रेष्ठों के लिए हम जिस प्रकार प्रियपात्र बन सकें, वैसा हमें बनाएं। हम जिसके प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करते है, उनके लिए आप भी हमे प्रिय पात्र बनाएं।

अपि च–

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।[9]

अर्थात – हे अग्नि देव आप हमें देवताओं एवं राजाओं का प्रिय बनाएं शूद्रों आर्यों आदि सभी दर्शकों का भी प्रिय बनाएं।

इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति के ब्राह्मण या क्षत्रिय होने का निर्धारण उसकी योग्यता, विद्वता, तपस्या और कर्मनिष्ठा से किया जाता था। अर्थात कोई भी व्यक्ति अपनी तपस्या और ज्ञान के बल पर ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता था तथा कोई भी आर्यजन अपनी वीरता और शौर्य से क्षत्रिय या राजन्य पद को प्राप्त कर सकता था।[10]इस तथ्य की पुष्टि परंपरा में वर्णित विश्वामित्र के प्रसंग से होती है। क्षत्रिय कुल में जन्म लेने के बावजूद उन्होंने अपनी कठोर तपस्या, अद्वितीय विद्या और आध्यात्मिक उत्कर्ष के बल पर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया।[11] यही कारण था कि राजा सुदास ने परंपरागत ब्राह्मण वशिष्ठ के स्थान पर विश्वामित्र को अपना पुरोहित नियुक्त किया।[12] महाभारत के खीलसूक्त के हरिवंश पर्व में गृत्समति के पुत्रों के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—तीनों वर्णों को प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।[13]इसी प्रकार पुराण साहित्य में भी ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें ऋषि-मुनियों के पुत्रों का कर्म के कारण अन्य वर्णों को अंगीकार करने का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में मनु के पुत्र पृषध्र द्वारा गुरु की गौ का वध करने के कारण उनके शूद्रत्व को प्राप्त होने का विवरण प्रस्तुत किया गया है।[14] इसी ग्रंथ में दिष्ट के पुत्र नाभाग के विषय में यह कहा गया है कि वे अपने कर्मों के परिणामस्वरूप वैश्यत्व को प्राप्त हुए।[15] यही तथ्य भागवत पुराण में भी प्रतिपादित किया गया है। यथा– **नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।**[16] वैदिक परंपरा के बाद वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। प्रारंभ में यह कर्म और गुण पर आधारित थी, पर बाद में जन्म पर आधारित हो गई। इससे सामाजिक भेद बढ़े और ब्राह्मणों की स्थिति सबसे मजबूत हो गई, जबकि आवश्यकता पड़ने पर वर्णों के बीच कार्य परिवर्तन संभव था।[17] किंतु ब्राह्मणों के लिए शूद्रों के कर्म करना निषिद्ध माना गया।[18]इसके विपरीत गौतम मुनि ने शूद्र के लिए कठोर नियम का उल्लेख करते हुए कहा है– **न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जितेन।**[19] अर्थात् शूद्र के स्पर्श से दूषित द्विज द्वारा एक हाथ से डाले जाने वाले जल से आचमन न करे ॥

अपि च

अथ ह्यस्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रति–
पूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।।[20]

अर्थात्– शूद्र के (अक्षर ग्रहण करने की इच्छा से) वेदपाठ सुनने पर (पिघलाये गए) सीसे और जस्ते से उसके कान भर दिये जाय, (द्विजातियों के साथ) वेद के अक्षर का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट ली जाय तथा वेद मन्त्र धारण करने पर उसका शरीर काट डाला जाय। परवर्ती काल में शूद्रों की स्थिति अत्यंत निम्न हो गई और अस्पृश्यता की भावना विकसित हुई। जहाँ वैदिक काल में इतना कठोर भेदभाव नहीं था, वहीं बाद में उन्हें सेवा तक सीमित कर उपेक्षित जीवन जीने के लिए बाध्य किया गया।[21] उनके धार्मिक कृत्यों को मंत्रविहीन रखने का विधान उनकी धार्मिक सीमाओं को दर्शाता है। यथा –

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ [22]

अर्थात् – जो कोई शुद्र से धर्म कहता है और उसे व्रत का उपदेश करता है वह उसी के साथ असंवृत नाम नरक में गिरता है।
ब्राह्मण के विषय में मनु ने कहा है कि जो ब्राह्मण वेद को छोड़कर अन्य व्यवसाययों और शास्त्रों में परिश्रम करता है वह अपने जीवन में कुल सहित शुद्रता को प्राप्त होता है।[23]

महाकाव्यकाल रामायण और महाभारत में जहाँ एक ओर जन्माधारित वर्ण की प्रवृत्ति दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर कर्म की श्रेष्ठता पर भी बल दिया गया है। रामायण में निषादराज गुह्य जो निषाद जाति से संबंधित थे, उन्होंने श्री राम को वनवास के समय आश्रय ही नहीं दिया अपितु श्री राम ने उन्हें मित्र का स्थान भी प्रदान किया है।[24] तत्पश्चात राम को खोजने के लिए जब भरत वन आए थे तो भरत ने उनके आश्रम में भोजन व विश्राम किया।[25]इसी प्रकार शबरी, जो सामाजिक दृष्टि से वर्णबाह्य मानी जाती थी, आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च कोटि की साधिका के रूप में प्रतिष्ठित थी।[26] उन्हें परम तत्त्व का निरंतर बोध था और सिद्ध तपस्वियों द्वारा उनका आदर किया जाता था।[27] श्रीराम द्वारा शबरी की भक्ति को स्वीकार करके उन्हें मोक्ष की प्राप्ति करवाना[28] इस विचार को पुष्ट करता है कि ईश्वर की प्राप्ति जन्म से नहीं, बल्कि शुद्ध भक्ति और साधना से संभव होती है। परन्तु शंबूक का प्रसंग इस आदर्श दृष्टि के साथ एक विरोधाभास भी प्रस्तुत करता है। शूद्र जाति में उत्पन्न शंबूक ने जब देवत्व प्राप्ति की आकांक्षा से कठिन तपस्या की तब उस तपस्या को तत्कालीन सामाजिक मर्यादाओं के प्रतिकूल मानते हुए श्रीराम द्वारा उसका वध किया गया[29] जो वर्ण-व्यवस्था की कठोर सीमाओं को उजागृत करता है। महाभारत में जाति और कर्म के संबंध पर अधिक स्पष्ट और दार्शनिक विमर्श उपलब्ध होता है। राजा जनक जब पराशर ऋषि से प्रश्न करते हैं कि मनुष्य को उसके कर्म दूषित करते हैं अथवा जाती[30] तो इसके उत्तर में पाराशर मुनि कहते हैं –

जात्या च कर्मणा चैव दुष्टं कर्म न सेवते ।
जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पूरुषः ॥[31]

अर्थात् – जो जाति और कर्म-इन दोनों से श्रेष्ठ तथा पाप कर्म का सेवन नहीं करता एवं जाति से दूषित होकर भी जो पापकर्म नहीं करता है; वही पुरुष कहलाने योग्य है।
इसी संवाद में पराशर मुनि शूद्र के विषय में एक अत्यंत उदात्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं –

वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः ।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम् ।।[32]

अर्थात– महाराज विदेहनरेश ! वेद-शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न द्विज शूद्र को प्रजापति के तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्या-द्वारा समस्त प्रजा का पालन करता है परतु नरेन्द्र ! मैं तो उसे सम्पूर्ण जगत् के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णु के रूप में देखता हूँ (क्योंकि पालन कर्म विष्णु का ही है और वह अपने उस कर्म द्वारा पालन कर्ता श्री हरि की आराधना करके उन्हीं को प्राप्त होता है) कर्मप्रधान आदर्श के बावजूद महाभारत में जातिगत भेदभाव के तीव्र उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। निषादपुत्र एकलव्य, जिसकी धनुर्विद्या और गुरु-निष्ठा अनुपम थी, उसे द्रोणाचार्य द्वारा केवल जातिगत कारणों से आधिकारिक विद्या से वंचित कर दिया गया।[33] इसी प्रकार कर्ण, जो सूतपुत्र के रूप में जाने गए, अपनी अद्वितीय वीरता और शौर्य के बावजूद उन्हें उनकी जाति के कारण अपमानित किया गया।[34] इससे प्रमाणित होता है कि यह काल वर्ण और जाति के बीच संक्रमण का काल था, जहाँ दोनों अवधारणाएँ समानांतर रूप से विद्यमान थीं। इसी प्रकार परवर्ती काल में वर्ण व्यवस्था में कठोरता आने के कारण वर्ण के अंतर्गत अनेक जातियों का आविर्भाव हुआ। परिणाम स्वरुप वर्ण के स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग होने लगा। अष्टाध्यायी में वर्ण जाति और बंधु यह तीन शब्द आए हैं वर्ण शब्द प्राचीन था उसके स्थान पर जाति शब्द चलने लगा जो इस अर्थ में अपेक्षाकृत नवीन था।[35] 10वीं 11वीं सदी में भारत आए अरबी लेखक अलबरूनी ने हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस काल तक वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी किंतु विभिन्न वर्णों के भीतर जातियां धीरे-धीरे स्थूल रूप लेती जा रही थी।[36] 12वीं शताब्दी के आते-आते भारत में अनेक जातियां बन गई जो व्यवसाय के साथ-साथ आचार–विचार में भी एक दूसरे से अलग थी ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य जैसी उच्च जातियां निम्न व्यवसाय अपनाने वाली जातियों से प्रायः अलग रहती थी।[37] अतः कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था का स्थान लेने वाली जाति व्यवस्था धीरे-धीरे अत्यधिक जटिल होती चली गई। विभिन्न वर्णों के अंतर्गत अनेक जातियां बनी और यह जातियां भी उपजातियां में विभाजित हो गई।[38] वैसे तो जाति व्यवस्था का निर्माण व्यवसाय विशेष के आधार पर हुआ था प्रत्येक जाति का एक वंशानुगत व्यवसाय था जिसे आगे बढ़ाने के लिए एक पीढ़ी ने दूसरी पीढ़ी को व्यवसायिक शिक्षा एवं कौशल प्रदान किया।[39] परंतु कालांतर में इस प्रथा के कारण समाज में एकता की भावना विलुप्त हो गई और जातियों में एक दूसरे के प्रति कटुता के भाव घर कर गए एक जाति के लोग दूसरी जाति के व्यवसायों से घृणा करने लगे। जातियों में पारस्परिक कटुता के फल स्वरुप सामाजिक एकता की भावना समाप्त हो गई।[40] भारत के प्राचीन धर्म के साथ-साथ भारतीय समाज की दशा भी 19वीं सदी में अत्यंत शोचनीय हो गई थी। जात पात ऊंच– नीच और छुआछूत के विचार इस युग के भारतीय समाज की महत्वपूर्ण विशेषता थी समाज अनेक ऐसी

जातियों में विभक्त था जिन में रोटी– बेटी का संबंध नहीं हो सकता था इस काल में कुछ जातियां ऊंची मानी जाती थी और कुछ नीची। ब्राह्मण राजपूत आदि को अपनी जाति का अभिमान होता था और अन्य जातियों को वह नीची निगाह से देखते थे। चमार भंगी आदि कितनी ही जातियां अस्पृश्य मानी जाती थी जिनके छू जाने या छाया पड़ जाने से मनुष्य को अपवित्र माना जाता था। इन्हें मानवता के साधारण अधिकार भी प्राप्त नहीं थे, ना यह मंदिरों में देव दर्शन कर सकते थे और ना सर्वजनिक कुओं में पानी भर सकते थे, आर्थिक जीवन में उनकी स्थिति अत्यंत दयनीय थी। यह प्रायः भूमिहीन मजदूर होते थे जो दूसरों के खेतों में मजदूरी कर अपना निर्वाह करते थे और सपरेशियों के अतिरिक्त अनेक ऐसी भी जातियां थी जो धोबी नाई जुलाह आदि का काम करती थी पर समाज में इन्हे नीची निगाह से देखा जाता था।[41] वर्ण व्यवस्था में निरंतर बढ़ती हुई क्रूरता और जातिगत भेदभाव को दूर करने के लिए मध्यकालीन और आधुनिक काल के अनेक समाज सुधारकों ने कई प्रयास किए जिनमें कबीर, महाप्रभु चैतन्य, नानक, रामानुज, राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी, प्रमुख हैं इन्होंने वर्ण व्यवस्था में शिथिलता तो लाई परंतु इस व्यवस्था को जड़ मुक्त नहीं कर पाए।[42]

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने डिस्कवरी ऑफ इंडिया में जातिवाद को राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे बड़ा खतरा बताया है।[43] इसी प्रकार राम मनोहर लोहिया ने जातिवाद को भारत में लोकतंत्र और समानता का सबसे बड़ा शत्रु कहा है।[44]

अतः कहा जा सकता है कि जातिवाद एक गंभीर सामाजिक बुराई है जो राष्ट्र की एकता, प्रगति और लोकतन्त्र में बाधक रही है। स्वतन्त्रता सेनानियों, समाज सुधारकों तथा साहित्यकारों ने इसे समाप्त करने का प्रयास किया। पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री ने भी अपने काव्य और आचरण से अस्पृश्यता का विरोध किया और समाज को यह संदेश दिया कि जाति के आधार पर भेदभाव अज्ञान है तथा राष्ट्र की शक्ति तभी बढ़ेगी जब समाज इससे मुक्त होगा। कवि स्वयं कहते हैं कि मैं कभी भी जातिवाद में उलझकर अपनी दृष्टि सीमित नहीं करूँगा, मेरी पूजा केवल राष्ट्र की ही है-

जातिवादे न गच्छेयं जातिवादो भयावहः।
आराध्यमस्तु मे राष्ट्रं राष्ट्रं मम परायणम् ।।
उच्च-नीच विचारेषु न पतेयं कदाप्यहम्।
आराध्यमस्तु मे राष्ट्रं राष्ट्रं मम परायणम्।।[45]

काव्यकार ने भगवद्गीता का दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मानव समाज में चार वर्णों का निर्माण केवल गुण और कर्म के आधार पर हुआ है।[46] जन्म या जातीय वर्ग के आधार पर किसी को नीच या श्रेष्ठ मानना सत्य के विरुद्ध है।[47] कवि ऐसी मानसिकता रखने वाले लोगों के विषय में कहते हैं-

वदति जन्मना शूद्रमिह योऽन्धमतिर्नरः।
भूत्वा मिथ्याभिमानी स हन्ति राष्ट्रं स्वभावतः।।[48]

अर्थात् – जो अल्पबुद्धि मनुष्य किसी को जन्म से शूद्र मानता है वह मिथ्याभिमानी बनकर स्वभाव से ही राष्ट्र को क्षति पहुंचाता है।

पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री के मतानुसार वह व्यक्ति जो धनलालसा के कारण शत्रु को राष्ट्र के रहस्यों का उद्घाटन करता है, जो राष्ट्रहित की उपेक्षा कर अपने स्वार्थ की सिद्धि में लिप्त रहता है,[49] जो देश में रहकर उसी की निन्दा करता है,[50] जो माता-पिता की सेवा से विमुख होकर[51] तथा गुरु का अनादर करता है,[52] जो मद्यपान में लिप्त रहकर अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता है,[53] जो धर्म और संस्कृति का तिरस्कार[54] व धर्मशास्त्रों की निन्दा करता है।[55] ऐसा व्यक्ति कवि की दृष्टि में सच्चे अर्थों में अस्पृश्य या अछूत है। शास्त्री जी के विचार इस विषय में अत्यंत गूढ़ और सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत है। वे मानते हैं कि अस्पृश्यता किसी जाति, कुल या जन्म से निर्धारित नहीं होती, बल्कि वह व्यक्ति जो राष्ट्र संस्कृति और मानवता के मूल्यों से विमुख होता है, वही इस पदवी का अधिकारी है। जो अपनी मातृभूमि की सभ्यता को तुच्छ मानकर विदेशी आडंबरो को अपनाता है। वह केवल राष्ट्र का नहीं, स्वयं अपने अस्तित्व का भी शत्रु बन जाता है। अतः ऐसे लोगों को भी काव्यकार अस्पृश्य मानते हुए कहते हैं–

सभ्यतां निजदेशस्य त्यक्त्वा गृह्णाति योऽपराम्।
न तस्मादधिकः कश्चिदस्पृश्योऽस्ति धरातले ।।[56]

इस प्रकार कवि ने 'अछूत' शब्द की मर्यादा को एक नवीन अर्थ प्रदान करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वास्तविकता में अछूत वह नहीं जो समाज के किसी वर्ग में जन्म ले, बल्कि वह है जो राष्ट्र की एकता, संस्कृति और आदर्शों के प्रति अनादर भाव रखें। इसी दृष्टि से उन्होंने 'हरिजन' शब्द की अनूठी व्याख्या की है। उनके अनुसार हरिजन केवल सामाजिक रूप से पिछड़े व्यक्ति नहीं, अपितु हरि के आदेश और प्रेम में जीवन यापन करने वाले हैं-

हरीच्छयाऽऽगतो विश्वे जीवामि च हरीच्छया।
हरीच्छया मरिष्यामि हरिजनो भवाम्यहम्।।[57]

कवि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हरिजन वह है जिसे हरि ने जन्म दिया, जिसने हरि के मार्ग को अपनाया और जिसके सम्पूर्ण कर्म हरि की इच्छा के अनुरूप हैं।[58] इस प्रकार हरिजन में समस्त मानवता, समस्त धर्म और सृष्टि की समरसता निहित है। जो व्यक्ति समस्त मानव को हरिजन मानकर प्रेम करता है, वही हरि के प्रति सच्चा समर्पित और राष्ट्रहितकारी है।[59] इसी प्रकार पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री ने अपने काव्य में मानवता की उस परम भावना को स्वर

दिया है जो समाज को ऊँच-नीच, जाति-भेद और वर्ग-विभाजन की दीवारों से मुक्त करने का आह्वान करती है। उनके द्वारा रचित महाकाव्य में 'मित्र महात्मय' नामक अध्याय में कवि ने इस प्रथा पर पुनः गहन प्रहार किया है। यहां दो छात्रों की कथा के माध्यम से कवि यह उद्घाटित करते हैं कि मित्रता का आधार जन्म अथवा जाति न होकर हृदय की पवित्रता और निष्ठा पर टिका हुआ बंधन है। कवि ने एक निर्धन ब्राह्मण और एक सम्पन्न हरिजन के माध्यम से उस मानवीय आदर्श को मूर्त रूप दिया है, जिसमें आत्मीयता, करुणा और समर्पण जातिगत भेदभाव से कहीं ऊपर स्थित हैं। निर्धन ब्राह्मण-मित्र अपने हरिजन मित्र को दुर्व्यसन के पथ से लौटाने के लिए अपने प्राणों का संकट भी स्वीकार करता है।[60] परिणामस्वरूप हरिजन मित्र के भीतर आत्मजागरण होता है और वह दुर्व्यसनों का त्याग कर संयम, परिश्रम और अध्ययन की ओर प्रवृत्त होता है तथा यश, सम्मान और आत्मगौरव का अधिकारी बनता है। इसका उल्लेख कवि ने निम्न श्लोक के माध्यम से इस प्रकार किया है-

एकाग्र मनसा पाठान् पठित्वा च दिवानिशम्।
प्रथमः सन् परीक्षायां प्रान्ते कीर्तिमवाप सः।।[61]

काव्यकार इस प्रसंग के माध्यम से यह संदेश देते हैं कि जाति के नाम पर विभाजन केवल अज्ञान की उपज है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि समाज को एकता और सद्भाव के सूत्र में बांधने के लिए हमें जाति के कृत्रिम भेदभावों को त्यागना ही होगा। उनका दृष्टिकोण यह भी है कि जातिवाद के कारण ही भारत का सामाजिक ताना-बाना खंडित हुआ और उसकी राष्ट्रशक्ति दुर्बल पड़ी।[62]

रचनाकार का यह उद्देश्य रहा है कि उनके काव्य के माध्यम से नई पीढ़ी सामाजिक समरसता और मानव एकता के आदर्श को आत्मसात करे। वे युवायों से आह्वान करते हैं कि वे जात– पात के संकीर्ण बंधनों से स्वयं को मुक्त करें और उस विचारधारा को नष्ट करें जो राष्ट्र की एकता में विष घोलती है।[63] कवि का यह संदेश अत्यंत स्पष्ट है कि यदि हम अपने देश का कल्याण चाहते हैं, तो हमें जाति भेद के कलंक को मिटाकर समानता और भ्रातृत्व के मार्ग पर अग्रसर होना होगा। कवि का विश्वास है कि जब समाज छुआछूत और भेदभाव से मुक्त होगा, तभी सच्चा राष्ट्रनिर्माण संभव है। अतः शास्त्री जी समस्त जनता को सचेत करते हुए कहते हैं-

सत्यं वदामि नासत्यं श्रृणवन्तु देशवासिनः।
कल्याणं कामयन्ते चेज्ञातिभेदं विमुंचत।।[64]

अर्थात् हे देशवासियों! सुनो, मैं सच कहता हूँ झूठ नहीं, यदि आप कल्याण चाहते हैं तो जाति-भेद को छोड़ दो।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास एक लचीली, कर्म-प्रधान वर्ण-व्यवस्था से होकर जन्माधारित, कठोर और विभाजनकारी जाति-प्रथा तक पहुँचा, जिसने सामाजिक एकता, राष्ट्रीय चेतना और मानवीय गरिमा को गंभीर क्षति पहुँचाई। वैदिक काल में जहाँ गुण और कर्म के आधार पर सामाजिक भूमिकाएँ निर्धारित होती थी और समन्वय की भावना विद्यमान थी, वहीं परवर्ती काल में जन्माधारित भेदभाव, अस्पृश्यता और ऊँच-नीच की अमानवीय प्रवृत्तियाँ सुदृढ़ होती चली गईं। इसके दुष्परिणाम केवल सामाजिक स्तर तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने राष्ट्रीय सुरक्षा, संगठन-शक्ति और सामूहिक प्रतिरोध क्षमता को भी कमजोर किया।
महाकाव्यकाल से आधुनिक काल तक कर्मप्रधान आदर्श और जातिगत भेदभाव साथ-साथ चलते रहे, जिससे समाज में जड़ता और अविश्वास बढ़ा। स्वतन्त्रता सेनानियों ने इसे राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा माना। पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री ने भी कर्म, मानवता और राष्ट्रहित को जाति से ऊपर रखा। निष्कर्षतः जातिवाद का समाधान केवल कानून से नहीं, बल्कि वैचारिक और नैतिक परिवर्तन से संभव है।

पाद टिप्पणी: -

1. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ. 351
2. प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 134
3. वही, पृ. 135
4. वही, पृ. 373
5. ऋग्वेद,10.90.12
6. शुक्लयजुर्वेदसंहिता 18.48
7. वही, 26.2
8. अथर्ववेदसंहिता 19.32.8
9. वही 19.62.1
10. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृष्ठ– 166
11. १.ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च ॥
    ॐकारोऽथ वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम्।
    क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि ॥
    ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः।।
    यद्येवं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः॥
    वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड,65.22– 24
    २.क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः ।
    विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम् ॥ महाभारत,1.136.14
12. प्राचीन भारत का धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक जीवन ,पृष्ठ 167–168
13. तथा गृत्समतेः पुत्रा ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः।। हरिवंशपुराण,1.32.20
14. पृषध्रस्तु मनुपुत्रो गुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगमत् ॥ विष्णु पुराण,4.1.17
15. दिष्टपुत्रस्तु नाभागो वैश्यतामगमत्तस्माद्बलन्धनः पुत्रोऽभवत् ॥ वही,4.1.19

16. श्रीमद्भागवत महापुराण,9.21.23
17. तदलाभे क्षत्त्रवृत्तिः।।
तदलाभे वैश्यवृत्तिः।।गौतमधर्मसूत्राणि,1.7.6– 7
18. सर्वथा वृत्तिरशक्तावशौद्रेण ॥ वही,1.7.22
19. वही,1.9.12
20. वही,2.3.4
21. उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः।। मनुस्मृति,10.125
22. वही,4.81
23. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः। वही,2.168
24. एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः ।
कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा ।।
तस्मात् पश्यतु काकुत्स्थं त्वां निषादाधिपो गुहः ।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ वल्मिकिरामायण प्रथम खण्ड,2.84.12,13
25. निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम्।
निवेदयाम ते सर्वं स्वके दाशगृहे वस ॥
आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्येनां विभावरीम्।
अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि॥ वही,2.84.16,18
26. एतःमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ॥
राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम्। वही,3.74.18
27. रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्यवस्थिता।।वही,3.74.10
28. इत्येवमुक्ता जटिला चीरकृष्णाजिनाम्बरा।
अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ॥
ज्वलत्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह।
दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना॥
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना।
विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामनी यथा॥ वही,3.74.32– 34
29. शूद्रोयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्र समास्थितः ।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः॥
भाषतस्तस्य शुद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः।। वल्मिकिरामायण,7.76.2,4
30. किं कर्म दूषयत्येनमथो जातिर्महामुने ।
सन्देहो मे समुत्पन्नस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।। महाभारत,12.299.31
31. वही,12.299.33
32. वही,12.299.28
33. न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्यं धनुषि धर्मशस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥ वही,1.131.32
34. न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तुर्ण प्रतोदो गृह्यतां त्वया
अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ वही,1.136.6– 7
35. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 106
36. भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विकास पृष्ठ 365
37. वही पृष्ठ 365
38. वही पृष्ठ 368
39. वही पृष्ठ 370
40. प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ 127
41. आर्य समाज का इतिहास पृष्ठ 156
42. प्राचीन भारत का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 127
43. डिस्कवरी ऑफ इंडिया पृष्ठ 375
44. भारत की जाति व्यवस्था पृष्ठ,18
45. राष्ट्रपथप्रदर्शनम्, 17.6-7
46. लिखितं चास्ति गीतायां 'गुणकर्मविभागशः।
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं’ शंका तत्र च कीदृशी।। तर्जनी, 9.9
47. अयमुच्चश्च नीचो ऽयं भेदं करोति जन्मना।
अस्पृश्यः सकले लोके भवति स स्वयंनरः।। वही, 9.40
48. वही, 9.35
49. लोभं धनस्य कृत्वा यो भेदं ददाति चारये।
अस्पृश्यः सकले लोके भवति स नराधमः।।
स्वार्थस्य यो वशे भूत्वा चेहते राष्ट्रखण्डनम्।
अस्पृश्यः सकले लोके भवति स नराधमः।। वही, 9.43– 44
50. यस्मिन् वसति राष्ट्रे यस्तस्यैव कुरुतेऽहितम्।
अस्पृश्यः सकले लोके भवति स नराधमः।। वहीं, 9.51
51. जन्मनश्च प्रदातारौ पितरौ यो न सेवते।
नरः स एव संसारे बुधैरस्पृश्य उच्यते।। वही, 9.58
52. गुरुं विद्याप्रदातारमादृणोति न यो नरः।
अस्पृश्यः सकले लोके भवति स नराधमः।। वही, 9.62
53. कुरुते मदिरापानं मानवो यश्च दुर्मतिः।
अस्पृश्यः सकले लोके केवलं स नरः स्मृतः।। वही, 9.71
54. संस्कृतिं निजदेशस्य तिरस्करोति यो नरः।
न तस्मादधिकः कश्चिदस्पृश्योऽस्ति धरातले।। वही, 9.94
55. निन्दति धर्मशास्त्राणि नेहते धर्मपद्धतिम्।
न तस्मादधिकः कश्चिदस्पृश्यः प्रोच्यते भुवि ।। वही, 9.91
56. तर्जनी, 9.95
57. वही, 10.2
58. हरिणा जन्म दत्तं मे पालयति हरिश्च माम्।
हरिष्यति हरिश्चैव हरिजनो भवाम्यहम्।। तर्जनी, 10.1
59. स्निह्यति जनमात्राय बुद्ध्वा सर्वान् हरेर्जनान्।
हरेः प्रियः स एवास्ति हरिजनो भवाम्यहम्।। वहीं, 10.42
60. कामं भवतु मे किंचिदस्य तु व्यध्वगामिनः।
सुधारं हि करिष्यामि प्राणैः कण्ठगतैरपि।। राष्ट्रपथप्रदर्शनम्, 9.28
61. राष्ट्रपथप्रदर्शनम्, 9.99
62. एतेन जातिभेदेन देशोऽस्माकं हि खण्डितः।
धिगेन जाति भेदं हि चाभिशापो महानयम्।। राष्ट्रपथप्रदर्शनम्, 9.106
63. युवानः सकला एवं स्युश्चेदादर्श वादिनः।
मातृभूमेः झटित्येव भाग्योदयो भविष्यति। राष्ट्रपथप्रदर्शनम्, 9.101
64. राष्ट्रपथप्रदर्शनम्, 9.107